

जैन शास्त्रों में वैज्ञानिक संकेत

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

कुंडलपुर, म० प्र०

जैन आगम में यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी हैं जिनमें आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वों के संकेत विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। अनेक स्थल ऐसे भी हैं कि जिन पर अभी वैज्ञानिक शोध कार्य नहीं हुए। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिन पर जैन चिन्तकों का भी ध्यान आकर्षित होना चाहिए। जो हमारी धारणाएँ हैं, उनसे भिन्न धारणा करने के लिए अनेक स्थल हमें बाध्य करते हैं। मेरे अध्ययन काल में जो स्थल मुझे ऐसे प्रतीत हुए, उनका संक्षिप्त विवेचन मैं इस लेख द्वारा विद्वान् जनों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन स्थलों पर मैंने कुछ सम्भावनाएँ भी इसमें व्यक्त की हैं जो आप सबका ध्यान आकर्षित करने के लिए हैं। हो सकता है कि मेरे चिन्तन की गलत धारा हो या सही हो पर विद्वानों को चिन्तन करने के लिए उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ। आप सबके चिन्तन और अध्ययन से उन पर नया प्रकाश मिल सकेगा, ऐसी आशा करता हूँ। मैं यहाँ विद्वज्जनमान्य उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर हो इनका निर्देश करता हूँ।

१. तैजस शरीर के स्वरूप पर विचार

सभी संसारी जीवों के तैजस, कामण—दो शरीर सदा पाये जाते हैं, यह बात सर्वस्य सूत्र द्वारा प्रतिपादित है। यह शरीर अनन्तगुण प्रवेश वाला है, अप्रतीघात है और परम्परा से अनादि काल से है। इसके स्वरूप के विवेचन में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में ये शब्द लिखे हैं :

यत्तेजो निमित्तं, तेजसि वा भवं तत्तैजसम् ।

जो तेज में निमित्त हो या तेज में उत्पन्न हो वह तैजस है। इस तैजस शरीर को सौपभोग भी नहीं बताया गया और निरूपभोग भी नहीं लिखा गया अर्थात् इन्द्रियादि द्वारा अर्थ को विषय करने में निमित्त यह नहीं है जैसे अन्य औदारिकादि तीन शरीर हैं तथा इसे कामण शरीर की तरह निरूपभोग भी नहीं माना। विचारना यह है कि सौपभोग भी न हो और निरूपभोग भी न हो, तो यह तीसरी अवस्था इसकी क्या है। निरूपभोग नहीं है—इसका कारण आचार्य लिखते हैं कि तैजस, योग में भी निमित्त नहीं है, इसलिए उपभोग निरूपभोग के सम्बन्ध में इसका विचार ही नहीं हो सकता। यह केवल औदारिक शरीरों में दोषि देता है, ऐसी मान्यता इस समय तक चली आ रही है। इसके सम्बन्ध में इससे अधिक विचार नहीं हुआ।

सम्भावनाएँ : 'तैजसमपि' सूत्र की व्याख्या में इसे भी लब्धि प्रत्यय माना है और वैक्रियक को भी लब्धि प्रत्यय माना है। तथापि दोनों शरीरों के निर्माण पृथक्-पृथक् वर्गणाओं से है। वैक्रियक तो आहार वर्गणा से ही निमित्त है अतः ऋद्धिधारी मुनि का औदारिक शरीर ही विक्रिया करने की विशेष योग्यता वाला बन जाता है। ऐसी मान्यता है। पर शुभ तैजस जो एक प्रकार से शुभ प्रकाश रूप में और अशुभ तैजस ज्वाला रूप में प्रगट होता है, वह क्रियात्मक है? मेरी दृष्टि में वह तैजस वर्गणा निमित्तक ही होना चाहिए। सूत्रकार ने तो दोनों शरीरों को ही लब्धि प्रत्यय लिखा है। उसकी टीका में उसे औदारिक शरीर हो इस रूप परिणमता है ऐसा नहीं लिखा। 'तेजसि भवं वा' पर विशेष विचार

किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह एक प्रकार का विजली की तरह 'पावर' है, शक्त्यात्मक है जो स्वयं न तो योग रूप क्रिया करता है और न उपयोगात्मक क्रिया का साधन है बल्कि इन सब शरीरों को शक्ति प्रदाता है। यह औदारिक शरीरों को तथा विग्रह गति में कार्मण शरीर को तेज (शक्ति) दायक है। ध्वला, पुस्तक ८ की वाचना के समय सागर में भी कुछ संकेत इसी प्रकार के प्राप्त हुए थे, अतः यह विचारणीय है।

२. भूमि के वृद्धि ह्रास सम्बन्धी सूत्रों पर विचार

एक प्रश्न जब हमारे सामने आता है कि आर्य खण्ड की इस भूमि पर भोग भूमि में तीन कोस के, दो कोस के, और एक कोस के तथा कर्मभूमि के प्रारम्भ में ५०० धनुष के मनुष्य होते थे, तो उस समय क्या भूमि का विस्तार ज्यादा होता था ? यदि नहीं, तो कैसे इसी भूमि पर उनका आवास बन जाता था। इस प्रश्न के आधार पर जब विचार आता है, तब तत्त्वार्थ सूत्र के अध्याय ३ के सूत्र २७-२८ पर भी ध्यान आकर्षित होता है। वे सूत्र हैं :

‘भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्’ तथा ‘ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः’।

अर्थात् भरत और ऐरावत की भूमियों में वृद्धि व ह्रास होता है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में, और इनके अलावा अन्य भूमियाँ वृद्धि ह्रास से रहित अवस्थित ही रहती हैं। यद्यपि पूज्यपाद आचार्य ने इस प्रश्न को उठाया है कि ‘क्यों?’ और समाधान दिया है ‘भरतैरावतयोः’ तथापि आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि ‘न तयोः क्षेत्रयोः असम्भवात्’। इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि सूत्र से भी क्षेत्र की ही वृद्धि-ह्रास का अर्थ निकलता है। पर चूँकि उसकी सम्भावना नहीं है, अतः भूमि स्थित मनुष्यादिकों के आयु-अवगाहना आदि का ही वृद्धि-ह्रास होता है, यह समझो विभक्ति के आधार पर व्याख्या की।

संभावना : यह सम्भावना की जाती है कि सूत्र का अर्थ भूमि की वृद्धि-ह्रास का भी सम्भाव्य है। प्रथम सूत्र में भरतैरावत में षष्ठी और सप्तमी से प्रचलित अर्थ किया जा सका, पर दूसरा सूत्र स्पष्टतया भूमियों की अवस्थिति बता रहा है, वहाँ ‘भूमयः’ प्रथमान्त शब्द है, षष्ठी, सप्तमी नहीं है, जिससे पूर्व सूत्र पर भी प्रकाश पड़ता है कि यदि भरत ऐरावत के सिवाय अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं, तो भरत ऐरावत की भूमियों में अनवस्थितता है, अतः उनमें वृद्धि ह्रास होते हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने उसकी सम्भावना तो नहीं देखी क्योंकि आर्यखण्ड-गंगा-सिन्धु दोनों महानदियों से पूर्व पश्चिम में और दक्षिण में विजयार्ध और लवण समुद्र से सीमाबद्ध है। अतः यह दिशा विदिशाओं में बढ़ नहीं सकता। इसलिए असम्भवात् शब्द से उसे व्यक्त किया है। तथापि एक और प्रसंग है, जो यह बतलाता है कि उत्सर्पिणी से अवसर्पिणी को और कालगति बढ़ने पर चित्रा पृथ्वी पर एक योजन भूमि ऊपर को बढ़ती है और प्रलय काल में वह वृद्धि समाप्त होकर चित्रा पृथ्वी निकल आती है, ऊपर बढ़ने पर पर्वतों की तरह ऊपर-ऊपर भूमि घटती जाती है और नीचे चौड़ी रहती है। क्या इसी आधार पर वृद्धि-ह्रास के सम्भाव्य संकेत तो नहीं हैं ? यदि यह माना जाय तो बड़ी अवगाहना के समय उसका विस्तार माना जा सकता है। यह भी यह विचारणीय संकेत है।

३. ज्योतिषचक्र की ऊँचाई तथा चन्द्रयात्रा पर विचार

वर्तमान मान्यता है कि सूर्य ऊपर तथा चन्द्र नीचे है। किन्तु जैनागम में प्रचलित मान्यता है कि सूर्य पृथ्वी तल से आठ सौ योजन और चन्द्रमा ८८० योजन है। यह प्रत्यक्ष अन्तर भी हमारी मान्यता को चुनौती हो जाती है। इस पर विचार किया जाए।

सम्भावना : सवार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र १२ की टीका में आचार्य ने इन ऊँचाइयों का वर्णन किया है। किन्तु यह वर्णन जिस आधार पर किया है, वह है एक प्राचीन गाथा, जिसमें क्रमानुसार पूर्वार्ध में संख्या है

और उत्तरार्ध में उन ज्योतिषकों के नाम हैं—७९०, १०, ८०, ४, ४, ३, ३, ३, ३ योजन ऊँचे हैं, निम्न विमान तारा-रवि-शशि-ऋषि-बुध-भागव-मंगल-शनि । इसमें यह सम्भावना भी की जा सकती है कि ग्रन्थों का लेखन हाथ से लेखकों द्वारा किया जाता था । यदि कदाचित् लिपिलेखक लिखने में रवि का नाम भूल से पहले और शशि का नाम उसके पीछे लिख जाये, तो दोनों की ऊँचाई का भी अन्तर पड़ सकता है । इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रायः लिपिलेखक भूल भी कर जाता है । वे सब बहुत ज्यादा आगमज्ञ ही होते हैं, ऐसा नहीं है । इसके लिए यह गाथा पूज्यपाद स्वामी के पूर्व कहीं अन्यत्र ग्रन्थों में पाई जाती है अथवा उनके पूर्व के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में क्या विवेचन है, इस ओर ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है । अकलंक देव ने यतिवृषभ और नेमिचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थों में इसी का अनुसरण किया है, पर ये पूज्यपाद के बाद के आचार्य हैं । क्या इससे पूर्व का कोई साहित्य है जिसमें उक्त कथन की पुष्टि ही पाई जाती है, तभी यह सम्भावना गलत होगी कि लेखक को भूल से परिवर्तन सम्भाव्य है ।

चन्द्रलोक यात्रा और उसकी दूरी

चन्द्रलोक की यात्रा मानव कर सकता है, इस पर जैन चिन्तक संशयारूढ़ हैं, उसकी ऊँचाई जो आगम में है और वर्तमान में मानी गई है वह भी जैनागम से मेल नहीं खाती ।

सम्भावना : मनुष्य, मनुष्य लोक में जा सकता है । मानुषोत्तर पर्वत तो उसकी सीमा दिशा-विदिशाओं में सूत्रकार ने बाँधी है, पर ऊपर ९९९९९ योजन और नीचे चित्रा पृथ्वी प्रभाग क्षेत्र भी मनुष्य लोक ही है । फलतः मध्य-लोक में मनुष्य लोक ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा और एक लाख योजन ऊपर-नीचे मोटा है । अतः चन्द्रलोक को ८०० या ८८० योजन जाना आगम पद्धति से विरुद्ध नहीं है । अंजनचोर को आकाशगामी विद्या सेठ के मंत्र से प्राप्त होने तथा उसके व सेठ के द्वारा सुमेरु पर्वत के जिनालयों की वन्दना की कथा प्रथमानुयोग में है । विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त मुनिजन भी सुमेरु के चैत्यालयों की वन्दना करते हैं । चैत्यालयों की स्थिति वहाँ सौमनस वन में ६३००० योजन तथा पाण्डुक वन की ९९००० योजन है, जब वहाँ मानव जा सकता है, तब ८८० योजन ऊपर जाना आगम सम्भव है । यह बात दूसरी है कि वहाँ लोग गये या नहीं गये । इसी प्रश्न को उठाकर लोग सन्देह उत्पन्न करते हैं ।

जहाँ तक ऊँचाई के माप का अन्तर है, उसके लिए यह विचार भी आवश्यक है कि उस समय के कोश का प्रमाण क्या था और आज कोश का प्रमाण क्या है, जिसके आधार पर योजन का माप है । जिन हाथों के प्रमाण से गज, और गजों से माइल और कोश इस युग में नापे गये हैं, उनकी ये परिभाषाएँ आधुनिक हैं, प्राचीन नहीं । प्राचीन परिभाषाएँ क्या थीं ? यह शोध होना चाहिए, तब अन्तर दूर होने की स्थिति बनेगी ।

एक उदाहरण पर विचार करें । भगवान महावीर की ऊँचाई ७ हाथ थी, वह हाथ किसका है या उसका क्या मापदण्ड है ? छठे काल में एक हाथ का शरीर होगा । शरीर की आकृति २१ हजार वर्ष में ६ हाथ घटेगी तो उस अनुपात से बीर निर्वाण २५०० में होने वाले मनुष्य सवा छः हाथ के हैं । अब हाथ के प्रमाण की परिभाषा हूँदना आवश्यक हो गया । यदि उसका निर्णय हो जाय, तो माप के अन्तर की शोध हो सकती है । यह भी विचारणीय है कि जैन आगम के अनुसार चन्द्रमा की ऊँचाई ८८० योजन है । वह ऊँचाई कहीं से नापी गई है, सुमेरु के पास विदेह क्षेत्र से या आर्यखण्ड की अयोध्या से ? वर्तमान के वैज्ञानिक किस कोण से माप करते हैं, यह भी देखना होगा । इस बात को एक उदाहरण से समझिये । सूर्य पृथ्वी से ८०० योजन है । कर्क संक्रान्ति के समय चक्रवर्ती नरेश अयोध्या में अपने महल के ऊपर से उस दिन सूर्य विमान में स्थित जिन बिम्ब का दर्शन करता है । सूर्योदय के समय वह सूर्य निषध पर्वत के ऊपर होता है, उस समय सूर्य की दूरी का प्रमाण ४७,२६३ योजन का आता है । इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न चार क्षेत्रों में स्थित सूर्य आदि ग्रहों की दूरी का प्रमाण भिन्न-भिन्न ही होगा । इसी परिप्रेक्ष्य

में चन्द्रमा की दूरी का अन्तर हूँड़ना आवश्यक होगा। तभी सही रूप से चन्द्रमा की वैज्ञानिक दूरी और आगमिक दूरी के अन्तर या रहस्य का भेद पाया जा सकेगा। उभय विषयों के सश्रम विद्वान् इस पर विचार करें और प्रकाश डालें।

४. शब्द की पौद्गलिकता और गति

‘शब्द’ को जैनागम में पुद्गल पर्याय माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ के सूत्र २४ में यह प्रतिपादित है। शब्द में पुद्गल की पर्याय के कारण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का होना अनिवार्य है। शब्द के इन गुणों पर भी विज्ञान के आधार पर विचार अपेक्षित है। शब्दों की व्यंजना वायु के आधार पर होती है, अतः दोनों में परस्पर सम्बन्ध है और दोनों पौद्गलिक हैं। वायु भी वायुकायिक जीवों का शरीर है। ये दोनों दृष्टिगाचर न होने पर भी श्रवण और स्पर्शन ग्राह्य हैं तथा इनके अन्य गुणों की अभिव्यक्ति भी विश्लेषण चाहती है। ‘प्रकाश’ भी सूत्र के अनुसार पुद्गल की पर्याय है और अन्धकार तथा छाया भी। इसी प्रकार के आतप और उद्योत भी हैं; जो पकड़े नहीं जाते पर चक्षु ग्राह्य हैं। इन सबका निरूपण भिन्न-भिन्न मतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हैं, पर इनको एकरूपता, पौद्गलिक होने के कारण, सुनिश्चित है। विज्ञान के प्रकाश में इस एकरूपता को स्पष्ट किया जाना चाहिए।

पुद्गल गतिमान द्रव्य है। विज्ञान ने भी शब्द को तथा प्रकाश को गतिशील माना है। यह प्रत्यक्ष भी दिखाई देता है। प्रकाश की गति शब्द से अधिक तीव्र मानी जाती है, पर जैन आगम में शब्द की गति अधिक बतायी गयी है। परमाणु यदि एक समय में लोकान्त तक गमन करता है, तो शब्दरूप पुद्गल स्कन्धात्मक परिणति के बाद भी दो समय में लोकान्त पर्यन्त गमन करता है, ऐसा ध्वला की तेरहवीं पुस्तक में स्पष्ट उल्लेख है। विज्ञान को कसौटी पर इस तथ्य का भी परीक्षण करना योग्य है।

५. काल द्रव्य असंख्याव है

सभी द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य की पर्याय निमित्तभूत हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। वह इस कार्य में अधम द्रव्य की तरह उदासीन निमित्त है, प्रेरक नहीं। कारण वह स्वयं क्रियावान् द्रव्य नहीं है। आर्यखण्ड में छह काल रूप परिवर्तन होता है। म्लेच्छखण्ड में यह परिवर्तन नहीं होता। विजयाध्वं पर्वत पर होने वाली विद्याधर श्रेणियों में भी यह परिवर्तन नहीं होता। स्वर्ग-नरक तथा भोग भूमियों में (जो स्थाई हैं) छः काल का परिवर्तन नहीं होता। क्या काल के परिणमन को विषमता भिन्न-भिन्न कालद्रव्य के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न परिणमनों की सूचक है। धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक द्रव्य है, तब इनके परिणमन की एक ही धारा है पर कालद्रव्य असंख्य हैं, अतः इनका परिणमन भिन्न-भिन्न हो सकता है। क्या इन छह काल रूप परिवर्तन में निमित्त शक्ति वाला कालद्रव्य आर्यखण्डों में ही है या इस परिणमन के कुछ अन्य कारण हैं कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप काल में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिणमन पाये जाते हैं। चिन्तन का यह भी एक विषय हो सकता है।

६. अचाक्षुष पदार्थ चाक्षुष कैसे बनता है ?

पाँचवें अध्याय का २८वां सूत्र है—‘भेदसंघाताभ्याम् चाक्षुषः’, भेद और संघात से पदार्थ चाक्षुष होता है। टीकाकार पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है ‘अनन्तान्त परमाणुओं के समुदायरूप कुछ स्कन्ध चाक्षुष है पर कुछ चक्षु का विषय नहीं बनते, वे अचाक्षुष हैं’। सूत्र की टीका में अचाक्षुष कैसे ‘चाक्षुष’ बनता है, इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि कोई अचाक्षुष स्कन्ध सूक्ष्म परिणत है, वह भेद के द्वारा भिन्न हुआ। उसका अंश अन्य चाक्षुष स्कन्ध में मिल गया, तब वह भी चाक्षुष बन गया। इस तरह भेद और संघात दोनों के योग से ही अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष बनता है।

सम्भावना : ऊपर का समाधान तो यथार्थ है हो, तथापि सूत्र में द्विवचन होने से अन्य अर्थ भी प्रतिफलित होता है। अचाक्षुष पदार्थ दो प्रकार से चाक्षुष बन सकता है। एक तो ऐसे कि अचाक्षुष सूक्ष्म परिणत दो स्कन्ध आपस

में मिल जाएँ और सूक्ष्मता त्याग कर चक्षु ग्राह्य बन जाये। यह प्रक्रिया तो प्रसिद्ध है परन्तु भेद से अचाक्षुष चाक्षुष हो जाये, इसकी भी सम्भावना है। इस विकल्प पर भी शोध होना चाहिये। टीकाकार के सामने जो स्थिति थी, उसके अनुसार अर्थ की जो संगति बैठाई है वह पूरी तरह ग्राह्य है। फिर भी एक दूसरी सम्भावना भी सूत्र से व्यक्त होती है जो यह सूचित करती है कि कुछ ऐसे भी स्कन्ध हो सकते हैं जो अचाक्षुष हों पर उनमें यदि भेद हो जाये तो, वे चक्षु ग्राह्य हो सकते हैं। उदाहरण से विचार करें, रेत और चूना दोनों पारदर्शक नहीं हैं पर जब दोनों के योग से कांच बनता है तो वह पारदर्शक हो जाता है।

प्रथमानुयोग में अंजन चोर की कथा है जो अंजन गुटिका का लेप करने पर संयुक्त अवस्था में अदृश्य (अचाक्षुष) हो जाता था और उस गुटिका के अलग होने पर दृष्टव्य (चाक्षुष) हो जाता था। इस प्रकार का जो संभावित अर्थ है उसका परीक्षण भी विज्ञान से होना चाहि। मिले हुए स्कन्ध यन्त्रों की पकड़ में आ सकते हैं जो अचाक्षुष हों। रासायनिक प्रक्रिया से उनका भेद करने पर उनके चाक्षुष होने की क्या कोई सम्भावना है, यह भी देखना चाहिये।

७. वेदनीय कर्म जीव विपाकी है या पुद्गल विपाकी

कर्मकाण्ड में वेदनीय कर्म को जीव विपाकी माना गया है। मोह के बल पर जीव उसके उदय में दुःख का वेदन करता है। वेदन जीव को होता है, अतः इसका जीव विपाको होना स्वाभाविक है, प्रसिद्ध है। आठवें अध्याय के आठवें सूत्र की टीका में टीकाकार के शब्द हैं :

यदुदयात् देवादिगतिषु शरीर-मानस सुखप्राप्तिः तत् सद्देद्यम् । यत् फलं दुःखमनेकविधं तत् असत्वेद्यम् ।

अर्थात् जिसके उदय से देव आदि गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख प्राप्त हो, वह साता वेदनीय है और जिसका फल विविध प्रकार के दुःख हैं, वह असाता वेदनीय है। साता के उदय में धन, सम्पत्ति, संतति की प्राप्ति होती है, यह उपचरित कथन है, क्योंकि कर्म का संश्लेष सम्बन्ध आत्मा से है। उदय भी आत्मा में है। वह कर्म सुख-दुःख की सामग्री का संचय नहीं कर सकता। जीव उस सामग्री के संचय में सफल हो सकता है किन्तु इस प्रसंग में ध्वला भाग ६ सूत्र २८ में कुछ ऐसा ही प्रश्न उठाया है कि क्या वेदनीय जीव विपाकी की तरह पुद्गल विपाकी भी है? उत्तर में कहा गया है कि 'इष्ट है'। इस उत्तर के समर्थन में जो हेतु दिया है, वह विचारणीय है। उत्तर का समर्थन इस हेतु द्वारा किया गया है—'सुख-दुःख के हेतु द्रव्य के सम्पादन करने वाला अन्य कर्म नहीं है, इस हेतु से इसे पुद्गल विपाकी कहा'। विचार यह है कि पुद्गल विपाकी तो देह विपाकी है। उसका फल तो देह के आकार-प्रकार आदि पर होता है। सुख के साधन धन, स्त्री, पुत्र आदि पर नहीं होता। अतः पुद्गल विपाकी की अन्यत्र क्या-क्या व्याख्याएँ हैं, इन पर विचार करना सार्थक हो सकता है।

८. गोत्र कर्म की व्याख्या

आठवें अध्याय में बारहवें सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :

यदुदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयात् गहिंतेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् ॥

जिसके उदय से लोक पूजित कुल में जन्म हो, वह उच्च गोत्र है तथा जिसके उदय से निन्दित कुल में जन्म हो, वह नीच गोत्र है। गोमटसार कर्मकाण्ड की व्याख्या यह है—'सन्तान क्रम से आया हुआ जीव का आचरण गोत्र कहलाता है। उच्च आचरण उच्च गोत्र है तथा नीच आचरण नीच गोत्र है। 'सूत्र की व्याख्या में पूजित कुल को उच्च गोत्र और निन्दित कुल को नीच गोत्र कहा गया है। पर गोमटसार में ऊँचे आचरण को उच्च गोत्र और नीच आचरण नीच गोत्र माना गया है। यहाँ कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं :

१. लोक पूजित किसे माना जाय ?
२. लोक का क्या अर्थ है ?
३. निन्दित कुल किसे कहा जाय ?
४. सन्तान क्रम से तात्पर्य कितनी पीढ़ियों से सदाचार देखा जाय ?
५. देव, नारकी और पशुओं में कुल की व्यवस्था है, तब उनके गोत्र के लक्षण क्या बनाये जायें ? क्योंकि मूलाचार में कुल का लक्षण स्त्री-पुरुष संतान किया है ।

उच्च गोत्र वाला नीच आचरण करके नीच गोत्रीय हो जाता है । उच्च गोत्र कर्म का सर्व संक्रमण होता है, पर नीच गोत्रीय उच्च आचरण करे, तो संक्रमण तो होगा पर सर्व संक्रमण नहीं होगा । तब व्याख्यायें कैसे बनेंगी ? इसी प्रकार संतान क्रम के सन्दर्भ में यदि अनादिकाल का सन्तान क्रम लिया जाय, तो किसी कुल के सदाचरण की परीक्षा कैसे होगी ?

अवधान-विद्या

अवधान-विद्या कोई जादू या वाजीगरी नहीं है । यह बहुत सहज साधना है और अभ्यास से सीखी जा सकती है । इसके लिये चित्त की एकाग्रता को साधा जाता है । इसके लिये मन की चंचलता को समझने की जरूरत है । चंचलता के कारण ही प्रश्न को ग्रहण करने की क्षमता भंग हो जाती है और स्मृति कमजोर हो जाती है ।

अवधान का अभ्यास ध्यान पद्धति से किया जाता है । ध्यान की कई पद्धतियाँ हैं पर जैन परम्परा के अनुसार तेरापंथ धर्मसंघ ने प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है । स्मृति की निरन्तरता ध्यान से आती है । इसके अनेक सूत्र हैं ।

प्राचीन ऋषि और मुनियों को खगोलशास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने के लिये लम्बी-लम्बी संख्याओं को याद रखने की जरूरत पड़ती थी । अवधान के माध्यम से ही वे ये संख्यायें याद रखते थे । लेखन और मुद्रण के विकास से अवधान की आवश्यकता कम समझी जाने लगी । इससे व्यक्ति की चेतना कूटित होने लगी । तीर्थंकर महावीर ने स्मृति को चेतना का एक गुण माना है । भगवती और आचारांग में स्मृति के अवधान के अनेक सूत्र दिये गये हैं । ये अन्य जैन आगमों में भी मिलते हैं । भगवान् महावीर की वाणी को नौ सौ साल तक लिपिवद्ध नहीं किया जा सका । आचार्यों की अवधान साधना से ही वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखी जा सकी । यदि यह विद्या न होती, तो ज्ञान की महत्वपूर्ण परम्परायें विलुप्त हो जाती और शोध के लिये परिकल्पनाओं का भी अभाव हो जाता ।

अवधान-साधकों के अनेक रूप होते हैं । शास्त्रों में शतावधानी, पंचशतावधानी, सहस्रावधानी एवं लक्षावधानी साधकों का विवरण पाया जाता है ।

आज के कंप्यूटर-युग में प्राचीन अवधान-विद्या एक विस्मयकारी साधना है । इससे अंक स्मृति, भाषा स्मृति, गणितीय पंचचात, मूल शोधन, सर्वतोभद्र यंत्र, समानांतर योग तथा स्मरण शक्ति के अनेक प्रयोग और समाधान अल्पकाल में ही किये जा सकते हैं ।

मुनि महेन्द्र कुमार